गुरदयाल सिंह

(1933–2016)

पंजाब के जैतो कस्बे में 10 जनवरी 1933 को एक साधारण दस्तकार परिवार में जन्मे गुरदयाल सिंह ने बचपन में कीलों, हथौड़ों से काम लेते हुए शिक्षा पूरी की और कलम पकड़ी। 1954 से 1970 तक स्कूल में अध्यापक रहे। पहली कहानी 1957 में *पंच दरिया* पत्रिका में प्रकाशित हुई। जब कालेज में प्राध्यापक हुए तो अपने ही उपन्यास पढ़ाने का मौका मिला। अंततः युनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर के पद से अवकाश ग्रहण किया।

गुरदयाल ठेठ ग्रामीण परिवेश और भावबोध के लेखक के रूप में जाने जाते हैं। बड़े सहज रूप से वे अपने पात्रों का चयन खेतिहर मज़दूरों, पिछड़े और दलित वर्ग के लोगों के बीच से करते हैं जो सदियों से अपने समाज की उस दूषित व्यवस्था के शिकार हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी शारीरिक हड्डियों को ही नहीं गलाती रही है, उनकी पूरी मानसिकता को दीन, हीन और बेबस बनाए हुए है।

पंजाबी भाषा में उल्लेखनीय योगदान के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित गुरदयाल सिंह को अपने लेखन के लिए साहित्य अकादमी, सोवियत लैंड नेहरू सम्मान, पंजाब की साहित्य अकादमी सहित कई अन्य पुरस्कारों से सम्मानित होने का गौरव प्राप्त हुआ है। उन्होंने बतौर लेखक कई देशों की यात्रा भी की।

उन्होंने अब तक नौ उपन्यास, दस कहानी संग्रह, एक नाटक, एक एकांकी संग्रह, बाल साहित्य की दस पुस्तकें और विविध गद्य की दो पुस्तकों की रचना की है। गुरदयाल सिंह की प्रमुख कृतियाँ हैं–*मढ़ी का दीवा, अथ–चाँदनी रात, पाँचवाँ पहर, सब देश पराया, साँझ–सबेरे और* (आत्मकथा) *क्या जानूँ मैं कौन?* गुरदयाल सिंह का निधन 16 अगस्त 2016 को हुआ।

1058CH02

सपनों के-से दिन

मेरे साथ खेलने वाले सभी बच्चों का हाल एक-सा होता। नंगे पाँव, फटी-मैली सी कच्छी और टूटे बटनों वाले कई जगह से फटे कुर्ते और बिखरे बाल। जब लकड़ी के ढेर पर चढ़कर खेलते नीचे को भागते तो गिरकर कई तो जाने कहाँ-कहाँ चोट खा लेते और पहले ही फटे-पुराने कुर्ते तार-तार हो जाते। धूल भरे, कई जगह से छिले पाँव, पिंडलियाँ या लहू के ऊपर जमी रेत-मिट्टी से लथपथ घुटने लेकर जाते तो सभी की माँ-बहनें उन पर तरस खाने की जगह और पिटाई करतीं। कइयों के बाप बड़े गुस्सैल थे। पीटने लगते तो यह ध्यान भी न रखते कि छोटे बच्चे के नाक-मुँह से लहू बहने लगा है या उसके कहाँ चोट लगी है। परंतु इतनी बुरी पिटाई होने पर भी दूसरे दिन फिर खेलने चले आते। (यह बात तब ठीक से समझ आई जब स्कूल अध्यापक बनने के लिए एक ट्रेनिंग[1] करने गया और वहाँ बाल-मनोविज्ञान का विषय पढ़ा। ऐसी बातों के बारे में तभी जान पाया कि बच्चों को खेलना क्यों इतना अच्छा लगता है कि बुरी तरह पिटाई होने पर भी फिर खेलने चले आते हैं।)

मेरे साथ खेलने वाले अधिकतर साथी हमारे जैसे ही परिवारों के हुआ करते। सारे मुहल्ले में बहुत परिवार तो, हमारी तरह आसपास के गाँवों से ही आकर बसे थे। दो-तीन घर, साथ की उजड़ी-सी गली में रहने वाले लोगों के थे। हमारी सभी की आदतें भी कुछ मिलती-जुलती थीं। उनमें से अधिक तो स्कूल जाते ही न थे, जो कभी गए भी, पढ़ाई में रुचि न होने के कारण किसी दिन बस्ता तालाब में फेंक आए और फिर स्कूल गए ही नहीं, न ही माँ-बाप ने ज़बरदस्ती भेजा। यहाँ तक कि परचूनिये, आढ़तीये भी अपने बच्चों को स्कूल भेजना ज़रूरी न समझते। कभी किसी स्कूल अध्यापक से बात होती तो कहते—मास्टर जी हमने इसे क्या तहसीलदार लगवाना है। थोड़ा बड़ा हो जाए तो पंडत घनश्याम दास से लंडे[2] पढ़वाकर दुकान पर बहियाँ[3] लिखने लगा लेंगे। पंडत छह-आठ महीने में लंडे और मुनीमी का सभी काम सिखा देगा। वहाँ तो अभी तक अलिफ-बे जीम-च भी सीख नहीं पाया।

1. प्रशिक्षण 2. हिसाब-किताब लिखने की पंजाबी प्राचीन लिपि 3. खाता (दुकान के हिसाब-किताब का ब्यौरा जिसमें लिखा जाए)

हमारे आधे से अधिक साथी राजस्थान या हरियाणा से आकर मंडी में व्यापार या दुकानदारी करने आए परिवारों से थे। जब बहुत छोटे थे तो उनकी बोली कम समझ पाते। उनके कुछ शब्द सुनकर हमें हँसी आने लगती। परंतु खेलते तो सभी एक-दूसरे की बात खूब अच्छी तरह समझ लेते।

पता भी नहीं चला कि लोकोक्ति अनुसार 'एह खेडण[4] दे दिन चार' कैसे, कब बीत गए। (हममें से कोई भी ऐसा न था जो स्कूल के कमरे में बैठकर पढ़ने को 'कैद' न समझता हो।) कुछ अपने माँ-बाप के साथ जैसा भी था, काम कराने लगे।

बचपन में घास अधिक हरी और फूलों की सुगंध अधिक मनमोहक लगती है। यह शब्द शायद आधी शती पहले किसी पुस्तक में पढ़े थे, परंतु आज तक याद हैं। याद रहने का कारण यही है कि यह वाक्य बचपन की भावनाओं, सोच-समझ के अनुकूल होगा। परंतु स्कूल के अंदर जाने से रास्ते के दोनों ओर जो अलियार के बड़े ढंग से कटे-छाँटे झाड़ उगे थे (जिन्हें हम डंडियाँ कहा करते) उनके नीम के पत्तों जैसे पत्तों की महक आज तक भी आँख मूँदकर महसूस कर सकता हूँ। उन दिनों स्कूल की छोटी क्यारियों में फूल भी कई तरह के उगाए जाते थे जिनमें गुलाब, गेंदा और मोतिया की दूध-सी सफ़ेद कलियाँ भी हुआ करतीं। ये कलियाँ इतनी सुंदर और खुशबूदार होती थीं कि हम चंदू चपड़ासी[5] से आँख बचाकर कभी-कभार एक-दो तोड़ लिया करते। उनकी बहुत तेज़ सुगंध आज भी महसूस कर पाता हूँ, परंतु यह याद नहीं कि उन्हें तोड़कर, कुछ देर सूँघकर फिर क्या किया करते। (शायद जेब में डाल लेते, माँ उसे धोने के समय निकालकर बाहर फेंक देती या हम ही, स्कूल से बाहर आते उन्हें बकरी के मेमनों की भाँति 'चर' जाया करते)।

जब अगली श्रेणी में दाखिल होते तो एक ओर तो कुछ बड़े, सयाने होने के एहसास से उत्साहित भी होते, परंतु दूसरी ओर नयी, पुरानी कापियों-किताबों से जाने कैसी बास आती कि उन्हीं मास्टरों के डर से काँपने लगते जो पिछली श्रेणी में पढ़ा चुके होते।

तब स्कूल में, शुरू साल में एक-डेढ़ महीना पढ़ाई हुआ करती, फिर डेढ़-दो महीने की छुट्टियाँ शुरू हो जाया करतीं। अब तक जो बात अच्छी तरह याद है वह छुट्टियों के पहले और आखिरी दिनों का फ़र्क था। पहले दो-तीन सप्ताह तो खूब खेल-कूद हुआ करती। हर साल ही माँ के साथ ननिहाल चले जाते। वहाँ नानी खूब दूध-दही, मक्खन खिलाती, बहुत प्यार करती। छोटा सा पिछड़ा गाँव था परंतु तालाब हमारी मंडी के तालाब जितना ही बड़ा था। दोपहर तक तो उस तालाब में नहाते फिर नानी से जो जी में आता माँगकर खाने लगते। नानी हमारे बोलने के ढंग या कम खाने के कारण बहुत खुश होती। अपने पोतों को हमारी तरह बोलने और खाने-पीने को कहती। जिस साल ननिहाल न जा पाते, उस साल भी अपने घर से थोड़ा बाहर तालाब पर चले जाते। कपड़े उतार पानी में कूद जाते और कुछ समय बाद, भागते हुए एक रेतीले टीले पर जाकर, रेत के ऊपर लेटने लगते। गीले शरीर

---

4. खेलने के 5. चपरासी

को गरम रेत से खूब लथपथ कर उसी तरह भागते, किसी ऊँची जगह से तालाब में छलाँग लगा देते। रेत को गंदले पानी से साफ़ कर फिर टीले की ओर भाग जाते। याद नहीं कि ऐसा, पाँच–दस बार करते या पंद्रह–बीस बार। कई बार तालाब में कूदकर ऐसे हाथ–पाँव हिलाने लगते जैसे बहुत अच्छे तैराक हों। परंतु एक–दो को छोड़, मेरे किसी साथी को तैरना नहीं आता था। कुछ तो हाथ–पाँव हिलाते हुए गहरे पानी में चले जाते तो दूसरे उन्हें बाहर आने के लिए किसी भैंस के सींग या दुम पकड़कर बाहर आने की सलाह देते। उन्हें ढाँढ़स बँधाते। कूदते समय मुँह में गंदला पानी भर जाता तो बुरी तरह खाँसते। कई बार ऐसा लगता कि साँस रुकने लगी है परंतु हाय–हाय करते किसी न किसी तरह तालाब के किनारे पहुँच जाते।

फिर छुट्टियाँ बीतने लगतीं तो दिन गिनने लगते। प्रत्येक दिन डर बढ़ता चला जाता। खेल–कूद और तालाब में नहाना भी भूलने लगता। मास्टरों ने जो छुट्टियों में करने के लिए काम दिया होता उसका हिसाब लगाने लगते। जैसे हिसाब के मास्टर जी दो सौ से कम सवाल कभी न बताते। मन में हिसाब लगाते कि यदि दस सवाल रोज़ निकाले तो बीस दिन मे पूरे हो जाएँगे। जब ऐसा सोचना शुरू करते तो छुट्टियों का एक महीना बाकी हुआ करता। एक–एक दिन गिनते दस दिन खेल–कूद में और बीत जाते। स्कूल की पिटाई[6] का डर और बढ़ने लगता। परंतु डर भुलाने के लिए सोचते कि दस की क्या बात, सवाल तो पंद्रह भी आसानी से रोज़ निकाले जा सकते हैं। जब ऐसा हिसाब लगाने लगते तो छुट्टियाँ कम होते–होते जैसे भागने लगतीं। दिन बहुत छोटे लगने लगते। ऐसा महसूस होता जैसे सूरज भागकर दोपहरी में ही छिप जाता हो। जैसे–जैसे दिन 'छोटे' होने लगते स्कूल का भय बढ़ने लगता। हमारे कितने ही सहपाठी ऐसे भी होते जो छुट्टियों का काम करने की बजाय मास्टरों की पिटाई अधिक 'सस्ता सौदा' समझते। हम जो पिटाई से बहुत डरा करते, उन 'बहादुरों' की भाँति ही सोचने लगते। ऐसे समय हमारा सबसे बड़ा 'नेता' ओमा हुआ करता।

हम सभी उसके बारे में सोचते कि हमारे में उस जैसा कौन था। कभी भी उस जैसा दूसरा लड़का नहीं ढूँढ़ पाते थे। उसकी बातें, गालियाँ, मार–पिटाई का ढंग तो अलग था ही, उसकी शक्ल–सूरत भी सबसे अलग थी। हाँड़ी जितना बड़ा सिर, उसके ठिगने चार बालिश्त के शरीर पर ऐसा लगता जैसे बिल्ली के बच्चे के माथे पर तरबूज रखा हो। इतने बड़े सिर में नारियल–की–सी आँखों वाला बंदरिया के बच्चे जैसा चेहरा और भी अजीब लगता। लड़ाई वह हाथ–पाँव नहीं, सिर से किया करता। जब साँड़ की भाँति फुँकारता, सिर झुकाकर किसी के पेट या छाती में मार देता तो उससे दुगुने–तिगुने शरीर वाले लड़के भी पीड़ा से चिल्लाने लगते। हमें डर लगता कि किसी की छाती की पसली ही न तोड़ डाले। उसके सिर की टक्कर का नाम हमने 'रेल–बम्बा' रखा हुआ था—रेल के (कोयले से चलने वाले) इंजन की भाँति बड़ा और भयंकर ही तो था।

---

6. आजकल स्कूलों में विद्यार्थियों को पीटना मना है

हमारा स्कूल बहुत छोटा था—केवल छोटे-छोटे नौ कमरे थे जो अंग्रेज़ी के अक्षर एच (H) की भाँति बने थे। दाईं ओर पहला कमरा हेडमास्टर श्री मदनमोहन शर्मा जी का था जिसके दरवाज़े के आगे हमेशा चिक लटकी रहती। स्कूल की प्रेयर (प्रार्थना) के समय वह बाहर आते और सीधी कतारों में कद के अनुसार खड़े लड़कों को देख उनका गोरा चेहरा खिल उठता। सारे अध्यापक, लड़कों की तरह ही कतार बाँधकर उनके पीछे खड़े होते। केवल मास्टर प्रीतम चंद 'पीटी' लड़कों की कतारों के पीछे खड़े-खड़े यह देखते थे कि कौन सा लड़का कतार में ठीक नहीं खड़ा। उनकी घुड़की तथा ठुड्डों के भय से हम सभी कतार के पहले और आखिरी लड़के का ध्यान रखते, सीधे कतार में बने रहने का प्रयत्न करते। सीधी कतार के साथ-साथ हमें यह ध्यान भी रखना होता था कि आगे पीछे खड़े लड़कों के बीच की दूरी भी एक सी हो। सभी लड़के उस 'पीटी' से बहुत डरते थे क्योंकि उन जितना सख्त अध्यापक न कभी किसी ने देखा, न सुना था। यदि कोई लड़का अपना सिर भी इधर-उधर हिला लेता या पाँव से दूसरी पिंडली खुजलाने लगता तो वह उसकी ओर बाघ की तरह झपट पड़ते और 'खाल खींचने' के मुहावरे को प्रत्यक्ष करके दिखा देते।

परंतु हेडमास्टर शर्मा जी उसके बिलकुल उलट स्वभाव के थे। वह पाँचवीं और आठवीं श्रेणी को अंग्रेज़ी स्वयं पढ़ाया करते थे। हमारे में से किसी को भी याद न था कि पाँचवीं श्रेणी में कभी भी उन्हें, किसी गलती के कारण किसी की 'चमड़ी उधेड़ते' देखा या सुना हो। (चमड़ी उधेड़ना हमारे लिए बिलकुल ऐसा शब्द था जैसे हमारे 'सरकारी मिडिल स्कूल' का नाम।) अधिक से अधिक वह गुस्से में बहुत जल्दी-जल्दी आँखें झपकते, अपने लंबे हाथ की उल्टी उँगलियों से एक 'चपत' हमारी गाल पर मार देते तो मेरे जैसे सबसे कमज़ोर शरीर वाले भी सिर झुकाकर मुँह नीचा किए हँस देते। वह चपत तो जैसे हमें भाई भीखे की नमकीन पापड़ी जैसी मज़ेदार लगती जो तब पैसे की शायद दो आ जाया करतीं।

परंतु तब भी स्कूल हमारे लिए ऐसी जगह न थी जहाँ खुशी से भागे जाएँ। पहली कच्ची श्रेणी से लेकर चौथी श्रेणी तक, केवल पाँच-सात लड़कों को छोड़ हम सभी रोते चिल्लाते ही स्कूल जाया करते।

परंतु कभी-कभी ऐसी सभी स्थितियों के रहते स्कूल अच्छा भी लगने लगता। जब स्काउटिंग का अभ्यास करवाते समय पीटी साहब नीली-पीली झंडियाँ हाथों में पकड़ाकर वन टू थ्री कहते, झंडियाँ ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ करवाते तो हवा में लहराती और

फड़फड़ाती झंडियों के साथ खाकी वर्दियों तथा गले में दोरंगे रूमाल लटकाए अभ्यास किया करते। हम कोई गलती न करते तो वह अपनी चमकीली आँखें हलके से झपकाते कहते–शाबाश। वैल बिगिन अगेन–वन, टू, थ्री, थ्री, टू, वन! उनकी एक शाबाश ऐसे लगने लगती जैसे हमने किसी फ़ौज के सभी तमगे जीत लिए हों। कभी यही एक शाबाश, सभी मास्टरों की ओर से, हमारी सभी कापियों पर साल भर की लिखी 'गुड्डों' (गुड का बहुवचन) से अधिक मूल्यवान लगने लगती। कभी ऐसा भी लगता कि कई साल की सख्त मेहनत से प्राप्त की पढ़ाई से भी पीटी साहिब के डिसिप्लिन में रहकर प्राप्त की 'गुडविल' बहुत बड़ी थी। परंतु यह भी एहसास रहता कि जैसे गुरुद्वारे का भाई जी कथा करते समय बताया करता कि सतिगुर[7] के भय से ही प्रेम जागता है, ऐसे ही पीटी साहब के प्रति हमारी प्रेम की भावना जग जाती। (यह ऐसा भी है कि आपको रोज़ फटकारने वाला कोई 'अपना' यदि साल भर के बाद एक बार 'शाबाश' कह दे तो यह चमत्कार-सा लगने लगता है–हमारी दशा भी कुछ ऐसी हुआ करती।)

हर वर्ष अगली श्रेणी में प्रवेश करते समय मुझे पुरानी पुस्तकें मिला करतीं। हमारे हेडमास्टर शर्मा जी एक लड़के को उसके घर जाकर पढ़ाया करते थे। वे धनाढ्य लोग थे। उनका लड़का मुझसे एक-दो साल बड़ा होने के कारण मेरे से एक श्रेणी आगे रहा। हर साल अप्रैल में जब पढ़ाई का नया साल आरंभ होता तो शर्मा जी उसकी एक साल पुरानी पुस्तकें ले आते। हमारे घर में किसी को भी पढ़ाई में दिलचस्पी न थी। यदि नयी किताबें लानी पड़तीं (जो तब एक-दो रुपये में आ जाया करतीं) तो शायद इसी बहाने पढ़ाई तीसरी-चौथी श्रेणी में ही छूट जाती। कोई सात साल स्कूल में रहा तो एक कारण पुरानी किताबें मिल जाना भी था। कापियों, पैंसिलों, होल्डर या स्याही-दवात में भी मुश्किल से एक-दो रुपये साल भर में खर्च हुआ करते। परंतु उस ज़माने में एक रुपया भी बहुत बड़ी 'रकम' हुआ करती थी। एक रुपये में एक सेर घी आया करता और दो रुपये की एक मन (चालीस सेर) गंदम। इसी कारण, खाते-पीते घरों के लड़के ही स्कूल जाया करते। हमारे दो परिवारों में मैं पहला लड़का था जो स्कूल जाने लगा था।

परंतु किसी भी नयी श्रेणी में जाने का ऐसा चाव कभी भी महसूस नहीं हुआ जिसका ज़िक्र कुछ लड़के किया करते। अजीब बात थी कि मुझे नयी कापियों और पुरानी पुस्तकों में से ऐसी गंध आने लगती कि मन बहुत उदास होने लगता था। इसका ठीक-ठीक कारण तो कभी समझ में नहीं आया परंतु जितनी भी मनोविज्ञान की जानकारी है, इस अरुचि का कारण यही समझ में आया कि आगे की श्रेणी की कुछ मुश्किल पढ़ाई और नए मास्टरों की मार-पीट का भय ही कहीं भीतर जमकर

7. सतगुरु

बैठ गया था। सभी तो नए न होते थे परंतु दो-तीन हर साल ही वह होते जोकि छोटी श्रेणी में नहीं पढ़ाते थे। कुछ ऐसी भी भावना थी कि अधिक अध्यापक एक साल में ऐसी अपेक्षा करने लगते कि जैसे हम 'हरफनमौला[8]' हो गए हों। यदि उनकी आशाओं पर पूरे नहीं हो पाते तो कुछ तो जैसे 'चमड़ी उधेड़ देने को तैयार रहते', इन्हीं कुछ कारणों से केवल किताबों-कापियों की गंध से ही नहीं, बाहर के बड़े गेट से दस-पंद्रह गज दूर स्कूल के कमरों तक रास्ते के दोनों ओर जो अलिआर के झाड़ उगे थे उनकी गंध भी मन उदास कर दिया करती।

परंतु स्कूल एक-दो कारणों से अच्छा भी लगने लगा था। मास्टर प्रीतमचंद जब हम स्काउटों को परेड करवाते तो लेफ्ट-राइट की आवाज़ या मुँह में ली व्हिसल से मार्च कराया करते। फिर राइट टर्न या लेफ्ट टर्न या अबाऊट टर्न कहने पर छोटे-छोटे बूटों की एड़ियों पर दाएँ-बाएँ या एकदम पीछे मुड़कर बूटों की ठक-ठक करते अकड़कर चलते तो लगता जैसे हम विद्यार्थी नहीं, बहुत महत्त्वपूर्ण 'आदमी' हों—फ़ौजी जवान।

दूसरे विश्व-युद्ध का समय था, परंतु हमारी नाभा रियासत का राजा अंग्रेज़ों ने 1923 में गिरफ़्तार कर लिया था और तमिलनाडु में कोडाएकेनाल में ही, जंग शुरू होने से पहले उसका देहांत हो गया था। उस राजा का बेटा, कहते थे अभी विलायत में पढ़ रहा था। इसलिए हमारे देसी रियासत में भी अंग्रेज़ की ही चलती थी फिर भी राजा के न रहते, अंग्रेज़ हमारी रियासत के गाँवों से 'जबरन[9]' भरती नहीं कर पाया था। लोगों को फ़ौज में भरती करने के लिए जब कुछ अफसर आते तो उनके साथ कुछ नौटंकी वाले भी हुआ करते। वे रात को खुले मैदान में शामियाने लगाकर लोगों को फ़ौज के सुख-आराम, बहादुरी के दृश्य दिखाकर आकर्षित किया करते। उनका एक गाना अभी भी याद है। कुछ मसखरे, अजीब सी वर्दियाँ पहने और अच्छे, बड़े फ़ौजी बूट पहने गाया करते—

भरती हो जा रे रंगरूट
भरती हो जा रे...
अठे[10] मिले सैं टूटे लीतर[11]
उठै[12] मिलैंदे बूट,
भरती हो जा रे,
हो जा रे रंगरूट।

अठे पहन सै फटे पुराणे
उठै मिलेंगे सूट

8. पारंगत/विद्वान/हर फन (विद्या) में माहिर 9. बलपूर्वक/ज़बरदस्ती 10. यहाँ 11. टूटे हुए पुराने खस्ताहाल जूते 12. वहाँ

भरती हो जा रे,
हो जा रे रंगरूट

इन्हीं बातों से आकर्षित हो कुछ नौजवान भरती के लिए तैयार हो जाया करते।

कभी-कभी हमें भी महसूस होता कि हम भी फ़ौजी जवानों से कम नहीं। धोबी की धुली वर्दी और पालिश किए बूट और जुराबों को पहने जब हम स्काउटिंग की परेड करते तो लगता हम फ़ौजी ही हैं।

मास्टर प्रीतमचंद को स्कूल के समय में कभी भी हमने मुसकराते या हँसते न देखा था। उनका ठिगना कद, दुबला-पतला परंतु गठीला शरीर, माता के दागों से भरा चेहरा और बाज-सी तेज़ आँखें, खाकी वर्दी, चमड़े के चौड़े पंजों वाले बूट-सभी कुछ ही भयभीत करने वाला हुआ करता। उनके बूटों की ऊँची एड़ियों के नीचे भी खुरियाँ लगी रहतीं, जैसे ताँगे के घोड़े के पैरों में लगी रहती हैं। अगले हिस्से में, पंजों के नीचे मोटे सिरों वाले कील ठुके होते। यदि वह सख्त जगह पर भी चलते तो खुरियों और कीलों के निशान वहाँ भी दिखाई देते। हम ध्यान से देखते, इतने बड़े और भारी-भारी बूट पहनने के बावजूद उनके टखनों में कहीं मोच तक नहीं आती थी। (उनको देखकर हम यदि घरवालों से बूटों की माँग करते तो माँ-बाप यही कहते कि टखने टेढ़े हो जाएँगे, सारी उमर सीधे न चल पाओगे।)

मास्टर प्रीतमचंद से हमारा डरना तो स्वाभाविक था, परंतु हम उनसे नफ़रत भी करते थे। कारण तो उसका मारपीट था। हम सभी को (जो मेरी उमर के हैं) वह दिन नहीं भूल पाया जिस दिन वह हमें चौथी श्रेणी में फ़ारसी पढ़ाने लगे थे। हमें उर्दू का तो तीसरी श्रेणी तक अच्छा अभ्यास हो गया था परंतु फ़ारसी तो अंग्रेज़ी से भी मुश्किल थी। अभी हमें पढ़ते एक सप्ताह भी न हुआ होगा कि प्रीतमचंद ने हमें एक शब्द-रूप याद करने को कहा और आदेश दिया कि कल इसी घंटी में ज़बानी सुनेंगे। हम सभी घर लौटकर, रात देर तक उसी शब्द-रूप को बार-बार याद करते रहे परंतु केवल दो-तीन ही लड़के थे जिन्हें आधी या कुछ अधिक शब्द-रूप याद हो पाया। दूसरे दिन बारी-बारी सबको सुनाने के लिए कहा तो एक भी लड़का न सुना पाया। तभी मास्टर जी गुर्राए-सभी कान पकड़ो।

हमने झुककर टाँगों के पीछे से बाँहें निकालकर कान पकड़े तो वह गुस्से से चीखे-पीठ ऊँची करो।

पीठ ऊँची करके कान पकड़ने से, तीन-चार मिनट में ही टाँगों में जलन होने लगती थी। मेरे जैसे कमज़ोर तो टाँगों के थकने से कान पकड़े हुए ही गिर पड़ते। जब तक मेरी और हरबंस की बारी आई तब तक हेडमास्टर शर्मा जी अपने दफ़्तर में आ चुके थे। जब हमें सजा दी जा रही थी तो उसके कुछ

समय पहले शर्मा जी, स्कूल की पूरब की ओर बने सरकारी हस्पताल में डाक्टर कपलाश से मिलने गए थे। वह दफ़्तर के सामने की ओर चले आए। आते ही जो कुछ उन्होंने देखा वह सहन नहीं कर पाए। शायद यह पहला अवसर था कि वह पीटी प्रीतमचंद की उस बर्बरता को सहन न कर पाए। बहुत उत्तेजित हो गए थे।

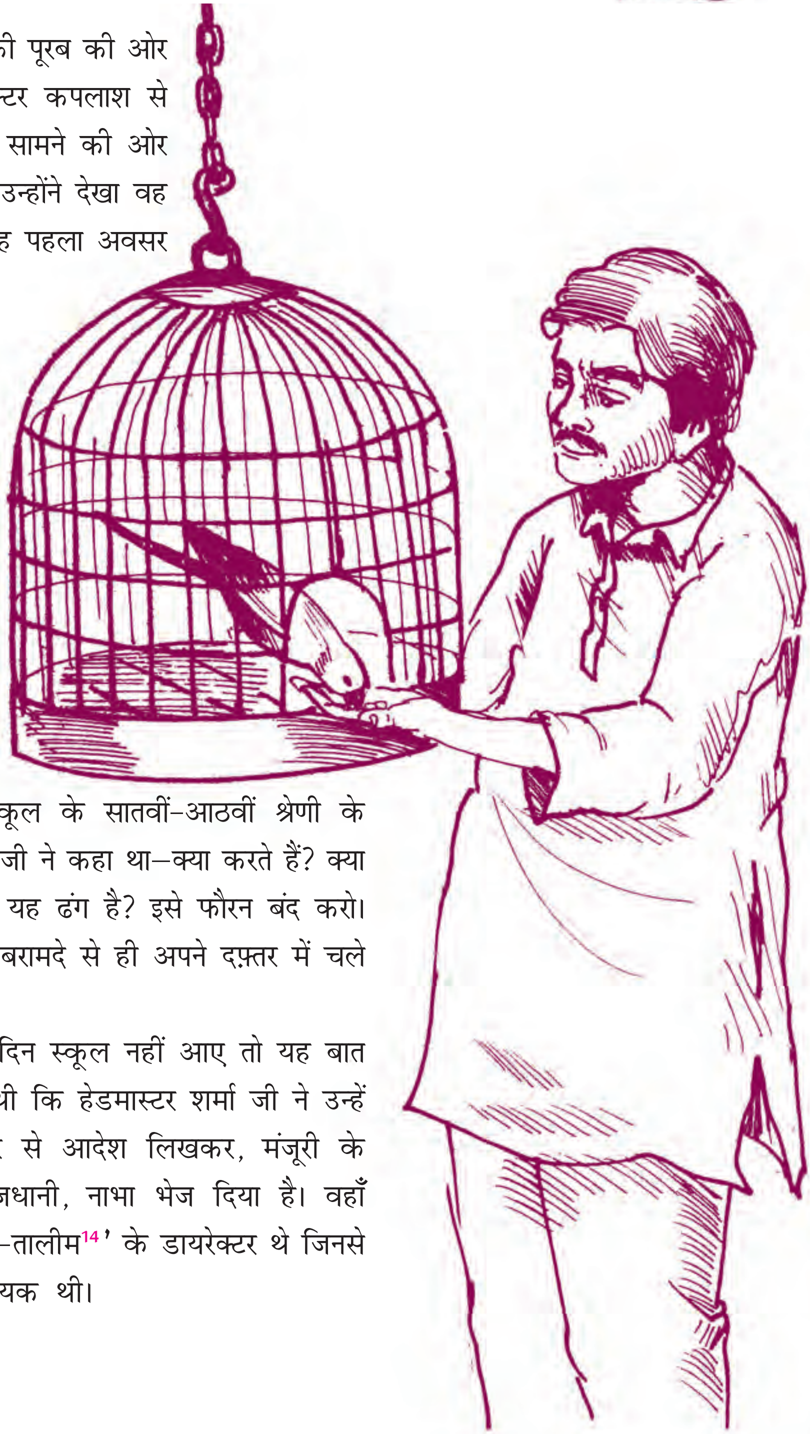

–ह्वाट आर यू डूईंग, इज इट दा वे टू पनिश दा स्टूडेंट्स आफ फोर्थ क्लास? स्टाप इट ऐट वन्स।

हमें तब अंग्रेज़ी नहीं आती थी, क्योंकि उस समय पाँचवीं श्रेणी से अंग्रेज़ी पढ़ानी शुरू की जाती थी। परंतु हमारे स्कूल के सातवीं-आठवीं श्रेणी के लड़कों ने बताया था कि शर्मा जी ने कहा था–क्या करते हैं? क्या चौथी श्रेणी को सजा देने का यह ढंग है? इसे फौरन बंद करो।

शर्मा जी गुस्से से काँपते बरामदे से ही अपने दफ़्तर में चले गए थे।

फिर जब प्रीतमचंद कई दिन स्कूल नहीं आए तो यह बात सभी मास्टरों की ज़ुबान पर थी कि हेडमास्टर शर्मा जी ने उन्हें मुअत्तल[13] करके अपनी ओर से आदेश लिखकर, मंजूरी के लिए हमारी रियासत की राजधानी, नाभा भेज दिया है। वहाँ हरजीलाल नाम के 'महकमाए-तालीम[14]' के डायरेक्टर थे जिनसे ऐसे आदेश की मंजूरी आवश्यक थी।

13. निलंबित 14. शिक्षा विभाग

उस दिन के बाद यह पता होते हुए भी कि पीटी प्रीतमचंद को जब तक नाभा से डायरेक्टर 'बहाल' नहीं करेंगे तब तक वह स्कूल में कदम नहीं रख सकते, जब भी फ़ारसी की घंटी बजती तो हमारी छाती धक्-धक् करती फटने को आती। परंतु जब तक शर्मा जी स्वयं या मास्टर नौहरिया राम जी कमरे में फ़ारसी पढ़ाने न आ जाते, हमारे चेहरे मुर्झाए रहते।

फिर कई सप्ताह तक पीटी मास्टर स्कूल नहीं आए। पता चला कि बाज़ार में एक दुकान के ऊपर उन्होंने जो छोटी-छोटी खिड़कियों वाला चौबारा किराए पर ले रखा था, वहीं आराम से रह रहे थे। कुछ सातवीं-आठवीं के विद्यार्थी हमें बताया करते कि उन्हें मुअत्तल होने की रत्ती भर भी चिंता नहीं थी। पहले की तरह ही आराम से पिंजरे में रखे दो तोतों को दिन में कई बार, भिगोकर रखे बादामों की गिरियों का छिलका उतारकर उन्हें खिलाते उनसे बातें करते रहते हैं। उनके वे तोते हमने भी कई बार देखे थे। (हम उन बड़े लड़कों के साथ उनके चौबारे में गए थे जो लड़के पीटी साहब के आदेश पर उनके घर का काम करने जाया करते) परंतु हमारे लिए यह चमत्कार ही था कि जो प्रीतमचंद बिल्ला मार-मारकर हमारी चमड़ी तक उधेड़ देते वह अपने तोतों से मीठी-मीठी बातें कैसे कर लेते थे? क्या तोतों को उनकी दहकती, भूरी आँखों से भय न लगता था।

हमारी समझ में ऐसी बातें तब नहीं आ पाती थीं, बस एक तरह इन्हें अलौकिक ही मानते थे।

बोध-प्रश्न

1. कोई भी भाषा आपसी व्यवहार में बाधा नहीं बनती—पाठ के किस अंश से यह सिद्ध होता है?
2. पीटी साहब की 'शाबाश' फ़ौज के तमगों-सी क्यों लगती थी? स्पष्ट कीजिए।
3. नयी श्रेणी में जाने और नयी कापियों और पुरानी किताबों से आती विशेष गंध से लेखक का बालमन क्यों उदास हो उठता था?
4. स्काउट परेड करते समय लेखक अपने को महत्त्वपूर्ण 'आदमी' फ़ौजी जवान क्यों समझने लगता था?
5. हेडमास्टर शर्मा जी ने पीटी साहब को क्यों मुअत्तल कर दिया?
6. लेखक के अनुसार उन्हें स्कूल खुशी से भागे जाने की जगह न लगने पर भी कब और क्यों उन्हें स्कूल जाना अच्छा लगने लगा?
7. लेखक अपने छात्र जीवन में स्कूल से छुट्टियों में मिले काम को पूरा करने के लिए क्या-क्या योजनाएँ बनाया करता था और उसे पूरा न कर पाने की स्थिति में किसकी भाँति 'बहादुर' बनने की कल्पना किया करता था?
8. पाठ में वर्णित घटनाओं के आधार पर पीटी सर की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

9. विद्यार्थियों को अनुशासन में रखने के लिए पाठ में अपनाई गई युक्तियों और वर्तमान में स्वीकृत मान्यताओं के संबंध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

10. बचपन की यादें मन को गुदगुदाने वाली होती हैं विशेषकर स्कूली दिनों की। अपने अब तक के स्कूली जीवन की खट्टी-मीठी यादों को लिखिए।

11. प्राय: अभिभावक बच्चों को खेल-कूद में ज़्यादा रुचि लेने पर रोकते हैं और समय बरबाद न करने की नसीहत देते हैं। बताइए–

    (क) खेल आपके लिए क्यों ज़रूरी हैं?

    (ख) आप कौन से ऐसे नियम-कायदों को अपनाएँगे जिससे अभिभावकों को आपके खेल पर आपत्ति न हो?